लेख

पितृसत्तात्मक नियंत्रण रेखा का विरोध

कविता कृष्णन

"चुनींदा मध्यवर्गीय नाराज़गी", "चमड़ी उधेड़ने वाली भीड़ की मानसिकता", "मर्दानगी भरी सुरक्षा", "औरतों की वैयक्तिकता और बलात्कारियों के लिंग काटने की मांग करने वाले पोस्टरों की एक साथ मौजूदगी।"

यौन हिंसा के ख़िलाफ़ जारी आंदोलन के बारे में कुछ शंकालू लोगों ने ऐसी ही बातें कहीं। महिला आंदोलन और छात्र आंदोलन के जो कार्यकर्ता इस आंदोलन से जुड़े उन पर तोहमत लगाई गई कि वे दरअसल में एक उत्तेजित भीड़ के ख़तरनाक जमावड़े को गुलाबी चश्मे से देख रहे हैं।

एक जन आंदोलन में दो विरोधी चेतनाओं की मौजूदगी के आसार हमें इतना परेशान क्यों कर देते हैं? इसी सवाल के बारे में सोचते हुए मैं इतालवी मार्क्सवादी अन्तोनियो ग्रेमसी तक पहुंची जिसने इस विरोधी चेतना के बारे में लिखा है:

"भीड़ में मौजूद सक्रिय इंसान ज़मीन पर एक व्यावहारिक कार्रवाई करता है लेकिन उसके पास कार्रवाई के पीछे की कोई स्पष्ट सैद्धान्तिक सोच नहीं है। परन्तु फिर भी उसके पास दुनिया की समझ और उसे बदलने की सोच तो है। उसके भीतर की सैद्धान्तिक चेतना दरअसल उसकी कार्रवाई से बिल्कुल उलट भी हो सकती है। शायद हम यह कह सकते हैं कि उसमें दो भिन्न सैद्धान्तिक चेतनाएं हैं (या दो विरोधी रूपों वाली चेतना है)। एक चेतना तो वह है जो उसकी कार्रवाई में झलक रही है, जो दुनिया की हकीकत बदलने की कोशिश में उसे उसके साथियों के साथ जोड़ती है। लेकिन उसके ही अंदर एक चेतना और भी है जो स्पष्टता का सिर्फ़ सतही आभास देती है या शब्दों में दिखती है। वह उसे अपने अतीत से मिली है, जिसे उसने बग़ैर सोचे-परखे आत्मसात कर लिया है।"

यह विरोधाभास, यह झगड़ा वह मिट्टी है जिससे राजनीतिक रूपांतरण और मूलभूतवाद बनता है। मैंने इसे सड़कों पर घटित होते देखा है। एक घटना याद आती है। 29 दिसम्बर— जिस दिन उस युवा, जांबाज़ लड़की ने अपने जख़्मों के चलते दम तोड़ दिया था। हम सब शोक मनाने जंतर-मंतर पर इकट्ठा हुए। हमने शुरूआत में ही तीखे, हिंसक नारे न लगाने की प्रार्थना की पर एक छोटे समूह ने हमारा विरोध किया। वे जंतर-मंतर की कार्रवाईयों पर कब्ज़ा करना चाह रहे थे। हम कुछ दूर खिसक गए। नम आंखों के साथ चुपचाप ज़मीन पर बैठी कुछ लड़कियों के साथ बैठ गए। जैसे-जैसे लोग गंभीरता और चिन्तन के माहौल वाली इस जगह की ओर खिंचते गए, दुख और चुप्पी के साथ बैठे लोगों का घेरा बढ़ता गया।

कुछ देर में बड़े सहज ढंग से वहां आज़ादी के गीतों और नारों का स्वर उठने लगा। दोपहर तक युवा लड़कियां अपनी सोच के बार में बताने लगीं। उसी समूह में से एक युवक मेरे पास आया और बातें करने लगा।

"मैं इस विरोध प्रदर्शन में रोज़ आ रहा हूं," उसने कहा। "मैं हिंसा से औरतों की सुरक्षा के इस संघर्ष का पूरा समर्थन भी करता हूं लेकिन यहां लगाए जा रहे आज़ादी के इन नारों से मुझे दिक्कत है। अगर मेरी बहन को कुछ भी पहनने और किसी के भी साथ जाने की आज़ादी हो तो क्या वह ख़तरे में नहीं पड़ जाएगी? आज़ादी का विचार मुझे परेशान करता है।" उसकी यह ईमानदार स्वीकृति मुझे अच्छी लगी।

मेरे पूछने पर उसने माना कि इस आंदोलन में हिस्सा लेने से पहले उसे याद नहीं कि कभी भी वह इतना परेशान हुआ था।

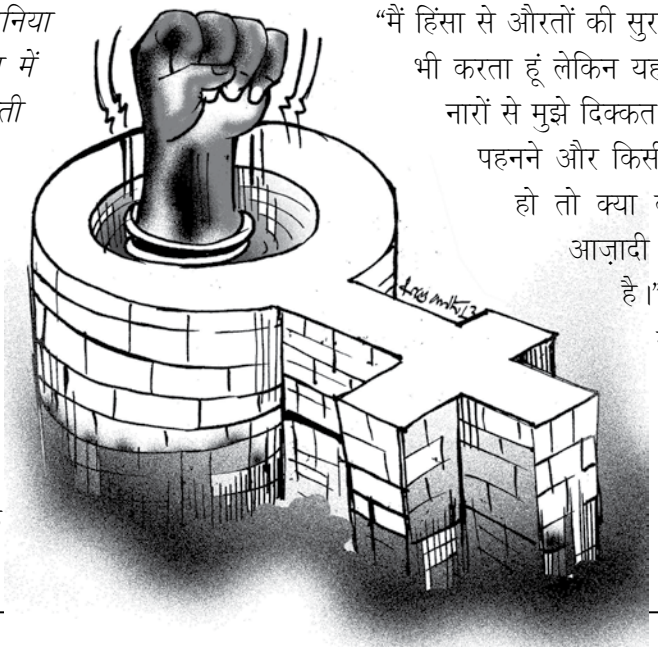

समाज में औरतों व मर्दों के लिए अलग-अलग नियम कायदे उसे सामान्य और सही लगते थे।

"परेशानी की इस भावना को गले लगाओ", मैंने कहा "और देखो यह तुम्हें कहां ले जाती है।"

आख़िर उसका परेशान होना पितृसत्तात्मक विचारों की इमारत में एक दरार थी। एक ऐसा लम्हा था जब पितृसत्तात्मक अचलता में कुछ हलचल हुई, कोई शंका पैदा हुई। ऐसे और कई मौके सामने आए हैं। काफ़िला के शुद्धबत सेनगुप्ता का दर्ज किया एक उदाहरण मुझे सबसे अधिक पसंद है। एक आदमी यमराज का मुखौटा पहनकर मृत्युदंड का विरोध करने वालों के भाषणों को सुनता है फिर वह अपना मुखौटा उतार फेंकता है, पोस्टर फाड़ देता है और दूसरी तख्ती उठा लेता है जिस पर लिखा है- "मृत्युदंड हल नहीं है।"

जब आज़ादी के नारों ने न्याय के नारों की व्याख्या की शुरुआत में 'हमें इंसाफ़ चाहिए' नारे का मतलब था, बलात्कारियों के लिए सज़ा की मांग, शायद फांसी भी। उस समय ऐसा लग रहा था जैसे सभी दलों के सांसद भी आंदोलन से जुड़ते दिखाई देने में खुश थे। जब तक इंसाफ़ का मतलब मृत्युदंड था, जब तक औरतें अपनी सुरक्षा की मांग कर रही थीं सरकार या सांसदों में किसी को कोई समस्या नहीं थी। लेकिन जैसे ही 'हमें चाहिए आज़ादी' के नारों ने इंसाफ़ का दायरा फैलाया और लड़कियों ने तख़्तियां उठा लीं जिन पर लिखा था— *वो करें तो स्टड, मैं करूं तो स्लट; मुझे कपड़ों का शऊर मत सिखाओ; उन्हें सिखाओ कि बलात्कार न करें।*

माहौल गर्माने लगा और आज़ादी के इतने विभिन्न रूप पूरे जोश के साथ नारों में ढलने लगे।

मांग हो रही थी— पैदा होने की आज़ादी, दूध पिलाए जाने की आज़ादी, पढ़ने की आज़ादी, काम करने की आज़ादी, अपनी संपत्ति और कमाई पर नियंत्रण की आज़ादी, अपनी पसंद की पोशाक पहनने की आज़ादी, प्यार करने, जाति, लिंग से परे जीवनसाथी चुनने की आज़ादी, बेटी को जन्म देने की आज़ादी, अपनी यौनिकता पर नियंत्रण की आज़ादी, हिंसक और असंतुष्ट शादी से मुक्त होने की आज़ादी, घर में और सार्वजनिक जगहों पर हिंसा के डर से आज़ादी, सरकारी दमन और हिरासत में हिंसा के डर के बग़ैर विरोध प्रदर्शन की आज़ादी।

क्या ये सभी मांगे इंसाफ़ के तहत नहीं आतीं? लेकिन इन नारों के साथ ही शासन और सांसदों के मुखौटे उतर गए। आंदोलनकारियों के साथ उनकी दिखावटी एकता की धज्जियां उड़ गईं और सामने आई औरत के प्रति निरी कठोर और द्वेषपूर्ण प्रतिक्रिया। उसके पीछे उनकी सोची समझी राजनीतिक मंशा भी थी। वे औरतों की समानता और स्वतंत्रता के इस आंदोलन पर पलटवार करने वाले पितृसत्तात्मक समूहों को संबोधित और एकजुट कर रहे थे। ज़ाहिर है औरतों की आज़ादी के नारे दुखती रग को छेड़ रहे थे क्योंकि सत्ता और पितृसत्ता के बीच करीबी रिश्ता है।

पितृसत्ता तथा औरत की गुलामी के चलते ही तो घर में उसकी बिना दाम की मेहनत का, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन जैसी नौकरियों में और बराबर काम के लिए औरत को कम मेहनताना देने जैसा आर्थिक शोषण संभव हो पाता है। भारत में नई उदार नीतियों ने औरतों का जीवन बदतर बना दिया है। इसलिए नहीं की उन्होंने औरतों पर अति-आधुनिकता थोपी है बल्कि इसलिए कि वे स्वस्थ और सशक्त आधुनिकता लाने में असफल रही हैं। उसके स्थान पर इन नीतियों ने दमन के मौजूदा ढांचों को मज़बूत किया है और शोषण व मुनाफ़े को बढ़ावा दिया है।

अब आज़ादी के इस आवेग को दबाने की तथा सुरक्षा के नाम पर औरतों पर पितृसत्तात्मक बंदिशें फिर से लागू करने की कोशिशें हो रही हैं। मोबाइन फ़ोन के इस्तेमाल पर रोक, कपड़ों के नियम-कायदे, स्कूल में लड़कियों द्वारा लड़को से बातचीत पर पाबंदी, लड़कियों के छात्रावासों में निश्चित समय के बाद बाहर न रहने संबंधी सख़्ती जैसी खबरें देश भर से आ रही हैं।

पर इस बार इस आंदोलन की बदौलत इन पाबंदियों पर ज़ोर-शोर से बहस हो रही है और विरोध किया जा रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक मुख्य कॉलेज की बैठक में हॉस्टल की लड़कियों ने, उनके बाहर रहने की समय सीमा घटाए जाने की हिदायत को चुनौती दी और विद्रोह किया। उनका सवाल था। बलात्कार मर्द करते हैं तो ताले में बंद लड़कियों को क्यों किया जाए?

आज़ादी की यह पुकार किसी भी तरह से एक शहरी शोशा नहीं है। कुछ महीनों पहले हरियाणा और बिहार के देहात में प्रमुख जाति के लोगों ने स्कूल की एक दलित छात्रा के साथ सामूहिक बलात्कार किया था। हमारे कार्यकर्ताओं को जानकारी मिली कि बड़ी संख्या में स्कूली लड़कियों ने विरोध प्रर्दशनों में हिस्सा लिया। इन लड़कियों का सबसे बड़ा सरोकार यह था कि यौन हिंसा के खतरे के चलते उन्हें स्कूल और कोचिंग कक्षाओं में जाने से रोका जा सकता है।

अनेक लोगों के लिए यह आंदोलन सहानुभूति के साथ शुरू हुआ था। उसके पीछे भावना थी कि 'उस बस में मैं भी हो सकती थी'। हर गुज़रते दिन के साथ सहानुभूति का यह दायरा बढ़ता जा रहा था। अनेकों प्रदर्शकारियों से हम पहली बार मिल रहे थे। सोनी सोरी, कुनान पोशपोरा, प्रियंका भोटमागे, आसिया, नीलोफर, और न जाने कितनी संघर्षरत औरतों की बातें कीं जा रही थीं। गुजरात, पूर्वोत्तर राज्यों, हरियाणा के हिरासत में हुए बलात्कार और यौन हिंसा पर विरोध जताया जा रहा था।

इस जन-आंदोलन की एक ख़ासियत यह है कि इसने हमारे देश में औरतों के लिए खींची गई लक्ष्मण रेखाओं, नियंत्रण के दायरों को हमारे सामने उजागर कर दिया है। अच्छी बात यह है कि आज लोगों को ये लक्ष्मण रेखाएं, ये नियंत्रण के पैमाने, जायज़ और सामान्य नज़र नहीं आते। वे अब हर उस नियंत्रण, हर उस दमन की कोशिश को चुनौती देने के लिए तैयार हो गये हैं जो उन्हें पितृसत्ता की ओर वापस ढकेलना चाहती है।

कविता कृष्णन, *एपवा की सचिव हैं।*